

## मूल्य, उद्देश्य एवं समाज

क्रिस्टोफर विंच और जॉन गिंगेल

### शिक्षा में मूल्य

जीवन को उपयुक्त बनाने के लिए अहम् समझी जाने वाली चीजों का एक महत्वपूर्ण हिस्सा मूल्य हैं। मूल्य व्यक्तिगत, सामूहिक तथा समाज के स्तर पर लागू हो सकते हैं। मूल्य धारणाओं और नजरियों का रूप ले लेते हैं। इन धारणाओं और नजरियों की व्याख्या की जा सकती है। दोस्ती, अपने काम से संतुष्टी, पारिवारिक जीवन, अपने देश से प्यार जैसी जीवन को औचित्य प्रदान करने वाली अन्य धारणाओं के साथ मिलकर हमारी नैतिक तथा धार्मिक मान्यताएं हमारे मूल्यों का निर्माण करती हैं। विभिन्न समूहों में कुछ मूल्य एक जैसे हो सकते हैं और कुछ अलग-अलग भी हो सकते हैं। कभी-कभी मूल्य आपस में परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं। उदाहरण के तौर पर कोई अगर धार्मिक स्वतंत्रता में विश्वास करता है तो किसी एक ही प्रकार के धार्मिक रूप को मानने की अनुमति होना उसके मूल्यों का हिस्सा नहीं हो सकता।

किन्तु कोई व्यक्ति जिस चीज को अपने जीवन की सार्थकता के रूप में देखता हो, उससे हम उसे छोड़ने के लिए नहीं कह सकते क्योंकि ये मान्यताएं लोगों की पहचान का एक महत्वपूर्ण हिस्सा होती हैं, यह उनके जीवन को आकार देकर उन्हें वो बनाती हैं जो वे आज हैं। लेकिन अगर लोग अपने मूल्यों को छोड़ नहीं सकते तो वे उन लोगों के साथ कैसे रहेंगे जिनके मूल्य उनके मूल्यों से परस्पर विरोधी हैं। उदाहरण के तौर पर धार्मिक लोग, नास्तिक लोगों के साथ कैसे रह सकते हैं। एक सम्भावना है कि धार्मिक और नास्तिक लोग साथ नहीं रह पाएंगे। इस स्थिति में या तो वे आपस में लड़ेंगे या एक दूसरे से दूर रहने का फैसला कर लेंगे। दूसरी संभावना यह है कि सार्वजनिक निति के तहत दोनों ही समूह साझा सहमति के कुछ आधार ढूँढें जिनके क्रियान्वयन से किसी को भी आपत्ति न हो और अपनी धारणाओं के वे हिस्से जिन पर मतभेद हैं, उन्हें वे दोनों ही समूह अपने निजी क्षेत्र में रखें। जैसे कि नास्तिक लोग यह सुझाव दे सकते हैं कि धार्मिक लोग विद्यालयों में अलग से अपने बच्चों के लिए ऐच्छिक धार्मिक सेवाएं लागू कर सकते हैं, पर विद्यालय अपने आप में किसी भी धर्म से ताल्लुक नहीं रखेंगे। वहीं धार्मिक लोग यह सुझाव दे सकते हैं कि नास्तिक लोग अलग से किसी भी धर्म से संबंध ना रखने वाला विद्यालय रख सकते हैं। दोनों ही समूह अंतः इस समझौते पर पहुंच सकते हैं कि दोनों ही प्रकार के विद्यालय खोले जाएंगे और यह अभिभावकों पर छोड़ दिया जाएगा कि वे अपने बच्चों को किस विद्यालय में भेजते हैं। शिक्षा में मूल्यों की केंद्रीय भूमिका को समझे बिना शिक्षा निति के मुद्दों का आकलन नहीं किया जा सकता। किन्तु अगर विभिन्न प्रकार के मूल्यों में सामंजस्य बिठाना एक मुश्किल काम है तो सामंजस्य बिठाने की कोशिशों के साथ शिक्षा नीतियां बनाना और भी मुश्किल काम है।

## शिक्षा जीवन जीने की तैयारी है

शिक्षा की अवधारणा जीवन जीने की तैयारी से जुड़ी मानवीय गतिविधियों से सम्बंधित है। इसका संबंध मुख्य रूप से बच्चों और युवाओं से होता है, पर चूंकि कोई व्यक्ति जीवन के विभिन्न चरणों के लिए भी तैयार हो सकता या हो सकती है, अतः शिक्षा का संबंध उन सभी वयस्कों से भी हो सकता है जो अपने जीवन की दिशा को पुनर्स्थापित करना चाहते हैं। हालांकि यह कहना कि शिक्षा जीवन जीने की तैयारी है, इसकी अवधारणा को काफी सीमित करने जैसा है। पहली बात तो जीवन के भी कई पहलू होते हैं, जैसे कि काम, आराम तथा परिवार। दूसरा, विभिन्न लोगों और समूहों के जीवन के सबसे मूल्यवान पहलुओं के बारे में विचार अलग-अलग होंगे। वे जीवन के किस पहलू में किस बात को मूल्यवान समझेंगे इस बात का सीधा संबंध उनके मूल्यों से होगा। उदाहरण के लिए अगर कोई पारिवारिक जीवन को मूल्य देता है तो उसके लिए अन्य कारणों के साथ-साथ यह मान्यता भी होगी कि आत्मीयता, परस्पर निर्भरता तथा पारिवारिक जीवन की सहजता सार्थक अस्तित्व के अभिन्न अंग हैं। फिर भी जीवन जीने की तैयारी से जुड़े तीन पहलुओं को विशेष रूप से पहचानना जरूरी है। यह हैं- स्वाधीनता, नागरिकता एवं व्यावसायिकता। शिक्षा के स्वाधीनता वाले पहलू का संबंध ऐसा व्यक्ति तैयार करने से है जिसका जीवन में अपना खुद का सामर्थ्य हो, जो उस समाज की संस्कृति को समझ सके जिसमें उसकी परवरिश हो रही है, तथा जो अपने जीवन के लिए दिशा का चयन स्वयं कर सके। नागरिकता वाले पहलू का संबंध लोगों का अपने समाज का नागरिक होने से है, जो कि मतदान करते हैं, राजनीति में हिस्सा लेते हैं और स्वैच्छिक तथा परोपकारी गतिविधियों में भी शामिल होते हैं। जबकि व्यावसायिक पहलू में लोगों को आर्थिक गतिविधियों के कर्ता-धर्ता जैसे कि वेतनभोगी कर्मचारी अथवा स्वरोजगार में लगे व्यक्ति के तौर पर शामिल किया जाता है।

इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि किस प्रकार की व्यक्तिगत, नागरिक अथवा व्यावसायिक शिक्षा दी जानी है, इस बात पर भी विभिन्न लोग आपस में मतभेद रखते हैं। शिक्षा के विभिन्न पहलुओं के अलग-अलग तरह से प्रस्तुतीकरण से ही शिक्षा की विभिन्न संकल्पनाएं उभरती हैं। शिक्षा की अवधारणा और शिक्षा की संकल्पनाओं में इसी बात का फर्क है कि शिक्षा की अवधारणा का ताल्लुक जीवन जीने की तैयारी से है जबकि शिक्षा की किसी एक विशेष संकल्पना का संबंध जीवन जीने की किसी एक विशेष प्रकार की तैयारी से है।

हम शिक्षा की अवधारणा के मुकाबले शिक्षा की संकल्पनाओं की विषयवस्तु तथा उनके द्वारा निर्धारित सामग्री के कहीं ज्यादा समृद्ध होने की उम्मीद करते हैं। शिक्षा की विभिन्न संकल्पनाओं का समाज की संस्कृति से क्या संबंध है और इन्हें पाठ्यचर्या में किस रूप में शामिल किया जा सकता है, यह पूरा अलग से विचार का विषय है।

शिक्षा की संकल्पना बनाते समय जीवन जीने की सार्थक तैयारी के बारे में समाज के आन्तरिक मतभेदों का मुद्दा तुरंत ही उठ खड़ा होता है। जैसे कुछ लोगों को लग सकता है कि व्यावसायिक तैयारी शिक्षा के लिए गैर जरूरी है, वहीं अन्य लोगो का मत हो सकता है कि यह सबसे अहम् हिस्सा है, और इसके लिए बाकी कुछ भी छोड़ा जा सकता है। यह सब और भी पेचीदा हो जाता है जब कुछ समूह अपने लिए शिक्षा की एक अलग संकल्पना चाहते हैं और दूसरों के लिए कुछ और। अंतः शिक्षा की कोई भी विशेष संकल्पना, लगभग हमेशा उसे प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति या समूह के मूल्यों को परिलक्षित करती है। जीवन को सार्थकता प्रदान करने वाली बातों के विषय में जो मान्यताएं हैं, उनका गहरा असर सार्थक जीवन जीने की उचित तैयारी से संबंधित विचारों पर पड़ता है। जब इस तरह के मूल्य पूरी तरह से अथवा आंशिक रूप से आपस में विरोधी होते हैं तो शिक्षा की कौनसी परिकल्पना को समाज को व्यक्त करना चाहिए? यह एक मुश्किल सवाल बन जाता है। यहां इस पर ध्यान देने की जरूरत है कि कभी-कभी व्यक्तिगत स्तर पर लोग ऐसे समूहों का हिस्सा हो सकते हैं जिनका सरोकार एक-दूसरे के विपरीत प्रतीत होता है। उदाहरण के तौर पर अभिभावक अर्थव्यवस्था के विकास हेतु सामूहिक तौर पर व्यावसायिक शिक्षा की चाह रख सकते हैं जबकि अपने खुद के बच्चे के लिए वे उदार शिक्षा चाह सकते हैं।

यदि किसी को लगता है कि समानता सर्वोपरि मूल्य है तो उसके लिए शिक्षा की एक विशिष्ट परिकल्पना होगी जिससे ज्यादा से ज्यादा समानता विकसित हो। दूसरी तरफ यदि कोई स्वाधीनता के मूल्य को सबसे महत्वपूर्ण मानता है तो वह शिक्षा की ऐसी परिकल्पना करेगा जहां स्वाधीनता सर्वाधिक हो। एक और उदाहरण देखते हैं, किसी को लग सकता है कि इत्मीनान भरा चिंतन ही सार्थक जीवन जीना है, जबकि किसी और को लग सकता है कि उपयोगी रोजगार में बिताया जाने वाला जीवन ही सार्थक जीवन हो सकता है। अब यह देखना बहुत ही मुश्किल है कि इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति किसी एक व्यक्ति के लिए एक ही समय पर कैसे संभव है।

लोकतान्त्रिक समाज में इन मुद्दों को कैसे सुलझाया जाए, इस हेतु आदर्श प्रतिरूप बनाना आसान है। उदाहरण के लिए यह उम्मीद की जाएगी कि विभिन्न सरोकार रखने वाले समूह एक साझे आधार पर आने की कोशिश करेंगे। वे प्राथमिकताएं निर्धारित करते हुए यह स्थापित करने की कोशिश करेंगे कि किसी एक व्यक्ति के संदर्भ में कहां टकराहट की स्थिति बनती है (जैसे की अभिभावक और कर्मचारी होना), और जहां यह संभव न हो वहां कौन से मूल्य रखने हैं और किस हद तक रखने हैं इस बारे में भी समझौते करने की कोशिश करेंगे। सरकारी शिक्षा व्यवस्थाओं के विकास का इतिहास बताता है कि विभिन्न परिस्थितियों में काफी अलग प्रकार की प्रक्रियाएं घटित हुई हैं। इसका पहला कारण है कि आधुनिक शिक्षा व्यवस्थाएं आमतौर पर पूर्णतः लोकतांत्रिक परिस्थितियों में स्थापित नहीं की गई थीं, दूसरा कम से कम यह तर्क तो दिया ही जा सकता है कि लोकतांत्रिक सरकार दरअसल प्रचलित विमर्श की बजाए कुलीन वर्ग की या परस्पर प्रतिद्वंद्वी कुलीन वर्ग की सरकार होती है।

सरकार वास्तविक प्रचलित विचार विमर्श की बजाए कुलीन वर्ग या आपस में प्रतिद्वंद्वी कुलीन वर्ग की सरकार है (ग्रीन 1990; शंपीटर 1976)। संयुक्त राज्य अमरीका संभवतः एक ऐसे समाज का सबसे करीबी उदाहरण है जहां शिक्षा व्यवस्था लोकतांत्रिक विचार विमर्श तथा कार्यकलापों के परिणाम स्वरूप स्थापित की गई। बाकी जगहों पर, जैसे कि प्रूशिया एवं फ्रांस में शिक्षा व्यवस्था उन राजनैतिक कुलीन वर्गों द्वारा स्थापित की गई जो कि अपने-अपने देशों को आधुनिक औद्योगिक ताकतों के रूप में विकसित करना चाहते थे। इंग्लैंड तथा वेल्स में कुलीन वर्ग को सरकार के कार्यों पर संदेह था इस कारण उन्होंने राजनैतिक अर्थशास्त्री एडम स्मिथ (1776) के सुझावों के आधार पर कुछ धनी वर्ग के लोगों के लिए पारंपरिक कुलीन लोगों की शिक्षा व्यवस्था का प्रावधान व बाकी जनता के लिए प्राथमिक स्तर का लिखना-पढ़ना सीखने की व्यवस्था स्थापित की। इसलिए यह कहा जा सकता है कि इस बात की खासी सम्भावना है कि ऐसे प्रचलन या हल देखने को मिलें जो बाकी जनता की प्राथमिकताओं को प्रकट करने के बजाए राजनैतिक रूप से प्रभावशाली कुलीन वर्गों के प्रभावों एवं इच्छाओं से मेल खाते हों। हम देख सकते हैं कि आज के लोकतांत्रिक युग में भी नीति निर्माण का वही कुलीन पैटर्न जारी है।

## शिक्षा के उद्देश्य

शिक्षा के उद्देश्यों का उन मूल्यों से काफी गहरा संबंध होता है जिनके आधार पर शिक्षा व्यवस्था विकसित होती है। यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है क्योंकि उद्देश्य मूल्यों की ही व्याख्या करते हैं। यह समझना बहुत जरूरी है कि शिक्षा व्यवस्था के कई उद्देश्य ऐसे भी हो सकते हैं जिन्हें औपचारिक रूप से लिखा नहीं गया है। कोई चाहे कुछ भी कहे पर उसके इरादों का पता कुछ समय तक उसके बर्ताव और क्रियाकलापों को देख कर किया जा सकता है, ठीक उसी तरह कुछ समय तक यह देख कर कि शिक्षा व्यवस्था को कैसे चलाया जा रहा है, यह पता किया जा सकता है कि उसके उद्देश्य क्या हैं, भले ही ये उद्देश्य स्पष्ट रूप से बताएं न गए हों। कभी-कभी स्पष्ट रूप से व्यक्त किए गए उद्देश्य यह समझने में उपयोगी मार्गदर्शन कर सकते हैं कि वह शिक्षा व्यवस्था क्या करना चाह रही है, पर कभी-कभी यह उपयोगी नहीं भी हो सकते हैं। जिन परिस्थितियों में शिक्षा व्यवस्था के कोई स्पष्ट उद्देश्य नहीं होते, उन परिस्थितियों में व्यवस्था का संचालन देखा जाना चाहिए और इस संचालन को उस कुलीन वर्ग की प्राथमिकताओं के रूप में समझा जाना चाहिए जिनका उस व्यवस्था पर सबसे ज्यादा प्रभाव है।

## विद्यालय

ऊपर कही बात को समझने का एक अच्छा उदाहरण ब्रिटिश शिक्षा व्यवस्था है। 1999 तक इसके कोई स्पष्ट रूप से लिखे उद्देश्य नहीं थे, लेकिन शुरू से इसके मुख्य प्रयोजनों को देखा जाना संभव था। यह इस प्रकार था: भावी कार्मिकों की जनसंख्या को प्राथमिक स्तर की ऐसी शिक्षा देना जिसमें आधारभूत साक्षरता और गणना सीखने के साथ-साथ मौजूदा सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए जरूरी नजरिया भी शामिल हो (ग्रीन 1990)। उच्च श्रेणी के कार्यों के लिए निर्धारित लोगों की पहुंच में व्याकरण विद्यालय (ग्रामर स्कूल) थे जहां कुलीन शिक्षा का एक थोड़ा बदला हुआ रूप उपलब्ध कराया जाता था। यह शिक्षा उच्च शिक्षा एवं ऐसे व्यवसायों में प्रवेश हेतु दी जाती थी जिनमें आधारभूत साक्षरता एवं गणना के स्तर से ज्यादा शिक्षा की आवश्यकता होती थी। अंतः माध्यमिक शिक्षा का एक छोटा हिस्सा जान-बूझकर सरावजनिक शिक्षा से दूर रखा जाता था। इस 'पब्लिक स्कूल' प्रणाली का उद्देश्य उन सभी कौशलों तथा नजरियों से राजनैतिक कुलीन वर्ग का व्यक्तित्व बनाए रखना था जो कि ब्रिटिश साम्राज्य को चलाने के लिए आवश्यक था। यह कहा जा सकता है कि अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के संपूर्ण समाज के विकास के लिए उद्देश्य काफी स्पष्ट थे, और यह प्रणाली कुछ खुशकिस्मत लोगों को जिन्हें 'ग्रामर स्कूल' या 'पब्लिक स्कूल' का मौका मिलता था, शिक्षा के 'स्वाधीनता' संबंधी उद्देश्यों की पूर्ति करने की भी अनुमति देती थी। लेकिन शिक्षा के स्वाधीनता संबंधित उद्देश्य के विषय में ऊपर कही बात भी थोड़ी सावधानी के साथ समझी जानी चाहिए, क्योंकि इस बात के कई साक्ष्य हैं कि आमतौर पर पब्लिक स्कूल का प्राथमिक उद्देश्य व्यक्ति की अपनी पहचान खत्म करके उसे एक ऐसे सांचे में ढालना होता था जहां उसका व्यक्तित्व शासक वर्ग के एक सदस्य जैसा बन जाए और वह अपनी इस भूमिका को बखूबी निभा सके। इस प्राथमिक उद्देश्य की प्राप्ति के बाद यह प्रणाली व्यक्ति को आरामदेह शासकीय कुलीन वर्ग का एक सदस्य होने का मौका देती थी। दिलचस्प बात यह है कि यह प्रणाली 'विद्रोहियों' को पनपने का मौका भी देती थी जो कि ब्रिटिश साम्राज्य के विशेष कार्य करने में सक्षम होते थे (उदाहरण के रूप में रुडयार्ड किपलिंग की पब्लिक स्कूल पर लिखी कहानी 'स्तोखी एंड को' में उनके द्वारा लिखा विवरण देखें)। असल में इस शिक्षा प्रणाली में उदारता या स्वाधीनता वाली शिक्षा का आनंद केवल वो लोग ले पाते थे जो खुशकिस्मती से उच्च शिक्षा में प्रवेश पा जाते थे।

इस चर्चा से शायद स्पष्ट हुआ हो कि कुछ समाज अपनी शिक्षा व्यवस्था को संचालित करने के उद्देश्यों को मुखर होकर अभिव्यक्त करने की इच्छा क्यों नहीं रखते। यह समझा जा सकता है कि अंग्रेजी व्यवस्था जो नस्लीय श्रेष्ठता की भावना और अन्य 'कमतर (नस्तों)' के लोगों पर शासन के प्रति पक्की कतिबद्धता रखने के साथ साथ सख्त रूप से वर्गीकृत तथा लोगों को बहिष्कृत करने वाली भी थी, अपनी इस सच्चाई का प्रचार करने की इच्छा क्यों नहीं रखती थी।

## उद्देश्य निर्धारण से जुड़ी समस्याएं

हमने अभी तक देखा कि अगर एक समाज में अलग-अलग समूह के मूल्य अलग-अलग हैं तो यह हमेशा स्पष्ट नहीं हो पाता कि इन मूल्यों को एक विशिष्ट शिक्षा प्रणाली में कैसे शामिल किया जाएगा। समस्या तब और भी गंभीर हो जाती है जब ये मूल्य परस्पर विरोधी हों। कई बार इसका हल मूल्यों के उस 'छोटे से दायरे' को अपना कर निकाला जाता है जो परस्पर टकराहट रखने वाली मान्यताओं के बीच के साझेपन को अभिव्यक्त करता हो। उदाहरण स्वरूप नैतिक सद्गुण व हिदायतें इसाई तथा मुस्लिम दोनों ही धर्मों में हैं, अतः यह दो अलग-अलग मान्यताओं के आंशिक साझेपन का वो हिस्सा हो सकते हैं जो कि दोनों में समान हैं। इन साझे मूल्यों के आधार पर ऐसी नैतिक शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण हो सकता है जिसे इसाई और मुसलमान दोनों ही मानें।

लेकिन यह प्रस्तावित हल यह नहीं बताता कि दोनों समूहों की आपस में मेल नहीं खाने वाली मान्यताओं से कैसे पेश आना है, जैसे कि यौनिक नैतिकता से जुड़ी मान्यताएं। यह समस्या और भी जटिल हो जाती है जब हम एक ऐसे समाज के बारे में बात करने लगते हैं, जिसमें और कई समूह मौजूद हैं और जिनके कोई मूल्य आपस में मेल नहीं खाते। एक खतरा यह पैदा होता है कि समाज में साझा उद्देश्य बना सकने वाले मूल्यों के बारे में सहमति बेहद कम है। इस समस्या का एक संभावित हल है। पहला, यह कि जिन मूल्यों पर सहमति है उनके सिवाय किसी तरह की नैतिक शिक्षा शामिल

करने की कोशिश नहीं की जाए। नैतिकता से सीधा संबंध रखने वाले शिक्षा के उद्देश्य ऐसे होंगे जो असहमतियों को कम करने का अवसर देते होंगे, जैसे कि सहिष्णुता के गुण तथा समझौता करने की क्षमता का विकास (ग्रे 1995)। जबकि शिक्षा के बाकी उद्देश्य सीधे-साधे हानि रहित आकांक्षाओं की पूर्ति से सम्बंधित होंगे जैसे की साक्षरता, गणना, विवेकशील तथा कर्मठ नागरिकों एवं कार्मिकों का निर्माण आदि।

परन्तु, इस प्रकार से उद्देश्यों को अभिव्यक्त करने में खतरा यह है कि एक तो इनसे कोई खुश नहीं होगा दूसरा, इनका पाठ्यचर्या के निर्माण में कोई खास ठोस उपयोग नहीं होगा। एक दूसरा हल यह होगा कि साझा उद्देश्यों वाला एक छोटा दायरा तैयार किया जाए जो सभी विद्यालयों पर लागू हो और साथ ही सभी विद्यालयों को अपने निजी स्तर पर अपने-अपने मूल्यों को लागू करने की अनुमति भी दे दी जाए। इस प्रकार आम विद्यालयों के साथ-साथ कैथोलिक, ज्यूइश तथा मुस्लिम विद्यालय भी उपलब्ध होंगे। इस समस्या का एक और हल जिसका समर्थन उदारतावादी विचारक करते हैं, वह है कि सरकार का सहयोग केवल उन धर्मनिरपेक्ष विद्यालयों को होना चाहिए, जो सब लोगों के लिए खुले हों। कुछ लोगों का मानना है कि केवल इसी प्रकार के विद्यालय कानूनी तौर पर विद्यालय होने चाहिए। यह सोच मानती है कि स्वायत्तता या अपने जीवन की दिशा खुद चुनने की क्षमता, शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य होना चाहिए। ऐसा संभव हो पाने के लिए यह जरूरी है कि उस आयु में जब कोई अपने लिए यह चुनाव करने के लिए फिलहाल तैयार नहीं है, उस पर पूर्वनिर्धारित फैसले नहीं थोपे जाने चाहिए। किसी को एक विशेष धार्मिक व्यवस्था में शिक्षित करना उस पर इस प्रकार का एक फैसला थोपना है। पूर्वनिर्धारित फैसलों का थोपा जाना स्वायत्तता के विकास को बाधित करता है। लेकिन स्वायत्तता तो शिक्षा व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य है, अतः धार्मिक विद्यालयों का संचालन पाठ्यचर्या के उद्देश्य के विपरीत है, इसलिए इसकी अनुमति नहीं दी जानी चाहिए।

यह तो धार्मिक विद्यालयों के खिलाफ तर्क हुआ, लेकिन आम धर्मनिरपेक्ष विद्यालयों के पक्ष में क्या तर्क है? वह तर्क यह है कि स्वायत्त बनाने के लिए किसी के समक्ष जीवन के विभिन्न सार्थक विकल्पों की प्रस्तुती होनी चाहिए और उनमें अपनी रुचियों, मूल्यों एवं क्षमताओं के अनुरूप चुनने की योग्यता होनी चाहिए। इसमें यह बात भी शामिल है कि जब तक किसी में अपनी स्वायत्तता का प्रयोग करने की योग्यता नहीं आ जाए तब तक किसी को इस प्रकार का जीवन नहीं दिया जाना चाहिए जिसे वह बाद में छोड़ते समय तकलीफ पाए। इसलिए सीखने वालों को विभिन्न प्रकार के जीवन के संभावित विकल्पों के बारे में पर्याप्त जानकारी दी जानी चाहिए, और उनमें इन विकल्पों को अपनी रुचियों, मूल्यों एवं क्षमताओं के आधार पर आंकने के लिए तार्किक क्षमताओं का विकास भी किया जाना चाहिए। इन्हीं परिस्थितियों में वे अपने लिए स्वेच्छापूर्ण चयन कर सकेंगे। इसलिए सरकारी विद्यालयों का उद्देश्य विद्यार्थियों को चयन करने हेतु पर्याप्त जानकारीयों प्रदान करना और उनमें आलोचनात्मक तार्किकता का विकास करना है ताकि विद्यार्थियों में इस प्रकार का चयन करने की क्षमताएं आए। इन मुद्दों पर विस्तार से गौर करते हुए हमारा ध्यान विद्यालयों और महाविद्यालयों में सीखने की प्रकृति और इस मुद्दे की ओर जाता है कि क्या सिखाने का कोई ऐसा तरीका होना संभव है जो स्वायत्तता को दबाने की बजाए उसका विकास करे। इस प्रकार के विभिन्न जटिल मुद्दों पर अलग से बात किए जाने की जरूरत होगी।

मूल्यों और उद्देश्यों के बारे में समझने वाले कुछ संक्षिप्त व प्रासंगिक बिन्दु इस प्रकार हो सकते हैं। पहला, उदारतावादी तर्क यह मान कर चलता है कि धर्मनिरपेक्ष उदारता अपने आप में उन आलोचनाओं का विषय नहीं है जो यह धार्मिक तरीके से होने वाली परवरिश के प्रति स्थापित करता है। दूसरे शब्दों में यह, यह मान कर चल रहा है कि धर्मनिरपेक्ष उदारता एक ऐसा जीवन जीने का तरीका या मूल्यों की व्यवस्था है जिसका भविष्य में जीवन जीने के तरीके के चयन पर कोई प्रभाव नहीं होता। यह तर्क अपने आप में विवादित हो सकता है। जैसे अगर यह दिखा दिया जाए कि धर्मनिरपेक्ष उदारतावादी परवरिश के कारण बाद में स्वायत्तपूर्ण तरीके से जीवन जीने के किसी सार्थक तरीके को चुनने में दिक्कत आई, तो इसका यह केंद्रीय दावा ही खारिज हो जाएगा। तब भी कुछ लोगों ने तर्क दिया है कि धर्मनिरपेक्ष उदारतावाद के साथ की गई परवरिश स्वायत्त रूप से किसी धार्मिक जीवन के चुनाव को मुश्किल कर देती है। धर्मनिरपेक्ष उदारतावाद यह भी मान कर चल रहा है कि स्वायत्तता वह सर्वोच्च मूल्य है जिसकी चाह इंसानों को होनी

चाहिए। इस बात के साथ भी सभी की सहमती नहीं है। जैसे कि कुछ धार्मिक मानसिकता वाले शिक्षाविदों का सुझाव हो सकता है कि पवित्र और अच्छा होना अपने जीवन की दिशा खुद चुन पाने से ज्यादा जरूरी है। इस बात के लिए एक उदारतावादी जवाब भी है किंतु यहां हम उस पर बात नहीं करेंगे।

## शिक्षा के अनिवार्य एवं ऐच्छिक चरण

यह भूल जाना आसान है कि विकसित देशों में कई लोगों की शिक्षा का एक महत्वपूर्ण हिस्सा उनके विद्यालय की अनिवार्य शिक्षा पार कर जाने के बाद पूरा होता है। इस प्रकार की शिक्षा, विशेष रूप से उच्च शिक्षा, विश्वविद्यालयी शिक्षा या महाविद्यालयी शिक्षा अक्सर उदारतावादी होती है, जिसका प्राथमिक उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास होता है और दूसरा उद्देश्य कार्यक्षेत्र संबंधी कौशलों और देश की आर्थिक ताकत का विकास होता है। किन्तु इसका अधिकांश भाग इस तरह तैयार किया जाता है कि कार्यक्षेत्र संबंधी कौशलों और उससे सम्बंधित ज्ञान में दक्षता हासिल करके लोगों को श्रम बाजार के लिए तैयार किया जा सके। यह याद रखना जरूरी है कि ऐतिहासिक रूप से यूरोप और दुनिया के दूसरे भागों में सरकारों ने शिक्षा में हस्तक्षेप करके सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था की स्थापना केवल नागरिकों के विकास के उद्देश्य से नहीं की थी, बल्कि आर्थिक विकास के लिए जरूरी समझे जाने वाले कौशलों एवं ज्ञान के विकास के लिए भी की थी (ग्रीन 1990)। चिंतक अक्सर शिक्षा के इस क्षेत्र पर ध्यान नहीं देते, पर ये विस्तृत नीति के संदर्भ में अत्यधिक महत्वपूर्ण है तथा शिक्षाविदों के सामने कई मुश्किलें खड़ी कर देता है, क्योंकि यह उन्हें शिक्षा के उद्देश्यों पर काम करने के साथ-साथ आर्थिक उद्देश्यों पर भी काम करने के लिए मजबूर करता है। आइए इसे समझते हैं।

कोई देश अपनी शिक्षा व्यवस्था को कैसे संचालित कर रहा है और वह देश अपनी अर्थव्यवस्था को कैसे चला रहा है इन दोनों बातों में आपसी संबंध होता है। पर इस आपसी संबंध की प्रकृति ठीक-ठीक क्या होती है? हमने पहले ही बताया है कि शिक्षा के उद्देश्य यह तय करने के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण हैं कि उसका संचालन कैसे होगा। क्या यही बात देश की अर्थव्यवस्था पर भी लागू होती है? यह कुछ अटपटा सवाल लग सकता है क्योंकि जाहिर सी बात है कि अर्थव्यवस्थाओं का अस्तित्व वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन के लिए होता है ताकि लोग उनका इस्तेमाल व उपभोग कर सकें। किन्तु यह भी तो एक तरह से स्पष्ट ही है कि शिक्षा का ताल्लुक युवा लोगों को जीवन जीने के लिए तैयार करने से है। पर इस बात से विचारकों और निति-निर्माताओं को शिक्षा के उद्देश्यों पर चर्चा करने से रोका नहीं जा सकता। इसके पीछे कारण यह है कि 'जीवन जीने की तैयारी' शिक्षा का बड़ा ही आम सा उद्देश्य है। कुछ लोग तर्क कर सकते हैं कि जीवन का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा जिसके लिए लोगों को तैयार किया जाना चाहिए, वह है आत्मसंतुष्टी, कुछ अन्य लोग नागरिक भागीदारी को ज्यादा जरूरी मान सकते हैं और कुछ वेतन आधारित काम को। मान लो कोई कहता कि शिक्षा का एक उद्देश्य मजबूत अर्थव्यवस्था का विकास करना है। तो अब यह काफी स्पष्ट सा दिखने लगता है जब तक कि कोई यह न पूछ ले कि एक मजबूत अर्थव्यवस्था कैसी दिखती है? इस सवाल के कई संभावित जवाब हो सकते हैं। जैसे कोई कह सकता है कि एक मजबूत अर्थव्यवस्था वह है जो किसी देश को अपने खुद के संसाधनों पर खड़ा होने देती है, या फिर वो जो देश को सैनिक तथा राजनैतिक रूप से मजबूत बनने देती है, या फिर वो जिसमें बहुत सारी वस्तुओं तथा सेवाओं का व्यापार और उत्पादन होता है। तो इस सवाल के कई संभावित जवाब हैं। हालांकि यदि जवाब वस्तुओं और सेवाओं के व्यापार से जुड़ा होता, तब भी एक सवाल और होता कि किस प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं पर एक देश अपना ध्यान देने का निर्णय करे? यह समझना यहां जरूरी है कि यह सवाल केवल अर्थशास्त्रियों के लिए ही तकनीकी सवाल नहीं हैं, बल्कि उस देश के लोग किस प्रकार का जीवन जी सकेंगे, इस बात से भी जुड़ा हुआ है।

इस तरह अनिवार्य शिक्षा के बाद की शिक्षा, शिक्षा के उद्देश्यों के लिए नई समस्याएं खड़ी करती है। बल्कि आर्थिक लक्ष्यों को देखे बिना शैक्षिक लक्ष्य तय कर पाना संभव ही नहीं है। यदि मान्यता यह है कि आर्थिक गतिविधियों का लक्ष्य कामगारों के लिए रोजगार उपलब्ध कराना और व्यापार को लाभ पहुंचाना है, और इस बारे में विचार किए जाने की जरूरत नहीं है कि जिस बाजार पर यह उद्यम कब्जा करेंगे वह उच्च मूल्यों वाला है या निम्न मूल्य वाला, तो व्यावसायिक शिक्षा मूलतः बाजार की अल्पावधि की जरूरतों को पूरा करने के प्रशिक्षणों के रूप में विकसित होगी।

इस प्रकार की व्यवस्था में ज्यादातर लोगों के लिए विकसित होने के मौके बहुत ही कम होंगे। सामान्य कामगार के लिए यदि किसी तरह के कोई उदार उद्देश्य होंगे भी तो उन्हें कार्यक्षेत्र के बाहर पूरा किया जाएगा। दूसरी तरफ यदि किसी समाज को लगता है कि वह उच्च विशेषज्ञता व कौशलों वाली अर्थव्यवस्था विकसित करना चाहता है, तो इसके महत्वपूर्ण परिणाम होंगे। इन परिणामों का असर उद्यमों के व्यवहार पर पड़ेगा साथ ही स्कूल व अनिवार्य शिक्षा के बाद वाली शिक्षा कैसी होगी इस पर पड़ेगा। कोई समाज इससे भी आगे बढ़कर अतिवादी नजरिया अपनाते हुए यह सोचता है कि उच्च कौशल वाले कामों से इस प्रकार की परिस्थितियां पैदा की जाएं कि आत्मसंतुष्टि की प्राप्ति तो हो ही साथ ही एक हद तक काम के माध्यम से स्वशासन भी विकसित हो। तो इस परिस्थिति में व्यावसायिक शिक्षा व्यवस्था से स्वायत्तता तथा नागरिकता दोनों तरह के उद्देश्य हासिल किए जा सकते हैं।

शिक्षा व्यवस्था के उद्देश्यों का विकास करते समय एक समाज को मूल्यों के जिस मिश्रण पर ध्यान देना चाहिए उसमें आर्थिक गतिविधियों से जुड़े मूल्य भी शामिल हैं। एक बार फिर से ध्यान रहे कि अलग-अलग व्यक्तियों और समूहों के विचार इस बारे में अलग या अंतर्विरोधी हो सकते हैं कि यह मूल्य कौन से होंगे।

## निष्कर्ष

हम अब देख सकते हैं कि शिक्षा व्यवस्था की स्थापना करना और उसे चलाना कितना जटिल काम है और समाज में विभिन्न सरोकार रखने वाले समूहों को संतुष्ट करते हुए इसकी योजना बनाने और संचालन करने में कितनी मुश्किल समस्याएं आती हैं। हम अपनी बात का समापन इन समस्याओं के प्रबंधन के विभिन्न तरीकों तथा उन वैकल्पिक रास्तों के बारे में कुछ विचार रख कर करेंगे जहां हम अलग-अलग हल चुनने के परिणामस्वरूप पहुंच सकते हैं। इन समस्याओं का सबसे स्वाभाविक हल वह है जिसे हम 'कुलीन वर्गीय' हल कहते हैं। इस स्थिति में किसी भी समाज का राजनैतिक कुलीन वर्ग तय करता है कि उस समाज को क्या प्राथमिकताएं तय करनी चाहिए और उन्हें लागू कर देता है। प्रशिया और फ्रांस में उन्नीसवीं सदी में शिक्षा व्यवस्था का विकास इसी प्रकार के मॉडल को दर्शाता है। हालांकि इन उदाहरणों में कुलीन वर्गीय मॉडल अधिनायकवादी (गैर लोकतांत्रिक) सरकारों ने लागू किया था, परन्तु कुलीनता सिर्फ सत्तावादी शासन पद्धति तक ही सीमित नहीं होती है। वास्तव में कुलीन वर्ग कई प्रकार की राजनैतिक व्यवस्थाओं में मौजूद हो सकता है जिसमें कुलीन तंत्रीय व्यवस्था भी शामिल है। कुलीन तंत्रीय व्यवस्था वह व्यवस्था है जिसमें शासक चुनने का अधिकार एक सीमित कुलीन वर्ग के पास ही होता है। इस तरह शासक चुने जाने के बाद वह शासन करता है, जैसा की अठारवीं तथा उन्नीसवीं सदी में इंग्लैंड में होता था। दरअसल कई राजनैतिक विचारक आधुनिक लोकतंत्रों को असल में आपस में विरोधी कुलीन वर्गों के बीच प्रतिस्पर्धा का एक रूप मानते हैं (शुंपीटर 1958)।

हालांकि कुलीनतावाद अक्सर स्पष्ट और निर्णायक नतीजों को जन्म देता है पर हमेशा ऐसा नहीं होता। उन्नीसवीं सदी के इंग्लैंड और वेल्स इसका उदाहरण हैं। यहां शासकीय कुलीन वर्ग की विचारधारा अर्थव्यवस्था अथवा विस्तृत समाज में सरकार के हस्तक्षेप के सख्त खिलाफ थी, परिणामस्वरूप काफी लम्बे समय तक सरकारी शिक्षा व्यवस्था की स्थापना को लेकर अच्छी खासी अनिच्छा थी। अंततः जब इसे 1870 के बाद बनाया गया तब इसमें अनुदान वाली पुरानी व्यवस्था के कई तत्व मौजूद थे। इसके अलावा समाज ने यह सोच अपनाई कि आर्थिक विकास सरकार का काम नहीं है और शिक्षा के व्यावसायिक शिक्षा वाले पहलू की अनदेखी की गई (ग्रीन 1990)। समाज की शिक्षा व्यवस्थाओं पर कुलीन वर्ग द्वारा उनकी अपनी प्राथमिकताएं थोपे जाने की सम्भावना बनी रहती है। यह संभावना तब भी होती है जब वे प्रबुद्ध तथा दूरदर्शी हों। इस वजह से जिन समूहों के प्रति शिक्षा का सरोकार होना चाहिए उन समूहों तथा शिक्षा के महत्वपूर्ण पहलुओं की अनदेखी हो जाने का खतरा बना ही रहता है।

लोकतांत्रिक हल का यह विकल्प, कुलीन वर्गीय हल का ही एक और रूप लग सकता है, ऐसा लगने के कारण हम पहले ही देख चुके हैं। इसके अलावा यहां बहुसंख्यक मतदाताओं द्वारा अपने कथित फायदों के लिए कई दूसरे समूहों के हितों की अनदेखी भी हो सकती है। लिहाजा हालांकि संयुक्त राज्य अमेरिका में शिक्षा व्यवस्था का विकास मुख्य रूप से लोकतांत्रिक तरीकों से हुआ, पर यह तर्क भी सही है कि यह एक कीमत पर हुआ। यह कीमत थी संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ भागों में नस्लीय कट्टरता और शैक्षिक अलगाव का संस्थानीकरण तथा एक दूसरे दर्जे की शिक्षा

व्यवस्था का विकास जिसमें समाज की विविधता प्रकट करने और सभी को आसानी से शामिल करने के लिए शिक्षा के स्तर को नीचा कर दिया गया। इस तरह संविधान के अनुरूप धर्मनिरपेक्ष शिक्षा व्यवस्था विकसित करने पर बनी आम सहमति कई अभिभावकों को दुखी कर गई। कुलीन वर्ग की मध्यस्थता के बिना निकले लोकतांत्रिक हलों में यह समस्या हो सकती है कि लोकतांत्रिक निर्वाचक वर्ग अनिवार्य रूप से सीमित नजरिया रखता है और बड़ी आसानी से दूरगामी प्रभाव वाले विचारों के बदले सामने दिखने वाली चीजों से अधिक प्रभावित हो जाता है। उनके पास विकल्पों का सिमित ज्ञान होता है और उन पर जन उत्तेजना और उस समय के चलन का जल्दी से असर हो जाता है। और अंत में, एक हमेशा मौजूद रहने वाला खतरा है 'बहुसंख्यकों की निरंकुशता'। यह तब होता है जब बहुसंख्यक निर्वाचक वर्ग अल्पसंख्यक निर्वाचक वर्ग पर कोई ऐसा हल थोपता है जिसके लिए अल्पसंख्यक वर्ग सहमत नहीं है। उदाहरण के लिए धर्मनिरपेक्ष मानसिकता वाले बहुसंख्यक अभिभावक सरकारी वित्तीय सहायता प्राप्त धार्मिक विद्यालयों को गैरकानूनी घोषित करने का निर्णय अल्पसंख्यक धार्मिक जनता की इच्छा के विरुद्ध ले सकते हैं।

अंततः इन समस्याओं का हल वह है जो आजकल चलन में है। यानी शैक्षिक बाजार का निर्माण। इस हल में विभिन्न समूहों की प्राथमिकताओं में सामंजस्य बैठाने के लिए आर्थिक प्रक्रियाओं को शामिल किया जाता है। बाजार वाले हल में सरकार शिक्षा व्यवस्था की योजना बनाने और उसका नियंत्रण करने के अपने अधिकार छोड़ देती है। शिक्षा के विभिन्न उपभोक्ताओं के पास उन्हें और उनके बच्चों को सबसे अनुकूल लगने वाली व्यवस्था की स्थापना करने के लिए संसाधनों का इस्तेमाल करने का हक होता है। इनके साफ और स्पष्ट फायदे होते हैं। पहला और बड़ा फायदा यह होता है कि ये समाज में मौजूद विभिन्न प्रकार के शिक्षा के उद्देश्यों तथा अपनाई गई शिक्षा की किसी एक संकल्पना को लेकर आपस में परस्पर विरोधी सरोकारों और नजरियों की समस्या को हल कर देने का वादा करते हैं।

यानी हल यह है कि शिक्षा की उतनी संकल्पनाएं बनने दी जाएं जितनी मांग है। शिक्षा की कोई भी संकल्पना उसकी लोकप्रियता के आधार पर बनी रहेगी या खत्म हो जाएगी। अगर लोग किसी संकल्पना का समर्थन करते हैं तो वे उससे जुड़े रहेंगे अन्यथा नहीं। दूसरा दावा है कि यह सरकारी काम से जुड़ी अक्षमता को निजी क्षेत्र के प्रावधानों की क्षमता से बदला जा सकेगा। और अंत में यह कि बाजार व्यवस्था लचीली होगी और मांगों में बदलाव के संबंध में तुरंत प्रतिक्रिया करेगी। यहां यह कहना न्याय संगत होगा कि इस व्यवस्था के फायदों के साथ नुकसान भी हैं, और हम इस लेख का समापन कुछ नुकसानों को भी संक्षिप्त में बता कर करेंगे। पहला है, यहां सरकार या पूरे समाज का हित ध्यान में नहीं रखा जाता। और जैसा कि हमने पहले चर्चा की है, यह एक जरूरी पहलू है। दूसरा, यह व्यवस्था यह मानकर चलती है कि उपभोक्ताओं (जो कि इस परिस्थिति में बच्चों के अभिभावक हैं) के पास सारी जानकारियां हैं, वे प्रतिबद्धता व जिम्मेदारी से सही निर्णय लेने में समर्थ हैं। अंत में यह विचारणीय है कि क्या बाजार उन समस्याओं का हल दे भी पाएगा जिनमें कि मूलभूत रूप से एक केंद्रीय संरचना द्वारा निर्देशित सहयोग आवश्यक है।

शिक्षा उपलब्ध कराने का एक जरूरी पहलू जवाबदेही है या फिर यह सवाल कि क्या शिक्षा व्यवस्था अपने उद्देश्यों की पूर्ति कर रही है और कैसे? इसका अर्थ है कि कुछ मानदंड हैं जिन पर उपलब्धि को आंका जा सकता है। इस बात से यह भी ज्ञात होता है कि आंकने के कुछ मानक भी होंगे जो उपलब्धि का निर्धारण करेंगे। सभी लोग सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली में जवाबदेही की आवश्यकता में विश्वास नहीं करते। बाजार के कुछ सिद्धांतकारों का मानना है कि मांग होना अपने-आपमें प्रभावी होने का मानदंड है। किन्तु इस मुद्दे से जुड़ी बहस हम यहां नहीं करेंगे। इस अध्याय में शिक्षा निति के बनाने और उसका मूल्यांकन करने से संबंधित कई दार्शनिक मुद्दों की प्रचुरता और जटिलता को इंगित करने के बारे में काफी कुछ कहा जा चुका है। ♦

(यह लेख क्रिस्टोफर विंच और जॉन गिंगेल की किताब 'Philosophy & Educational Policy A Critical Introduction' से लिया गया है।)

**क्रिस्टोफर विंच:** इंग्लैण्ड के जाने-माने समकालीन शिक्षा दार्शनिक और किंग्स कॉलेज, लंदन में शिक्षा दर्शन के प्रोफेसर।  
**जॉन गिंगेल:** यूनिवर्सिटी कॉलेज नॉर्थम्पटन में दर्शनशास्त्र के विभागाध्यक्ष हैं।

**भाषान्तर : एकता (नन्दवाना) चंदा**